हिंदू बनाम हिंदुत्व

आत्म-बोध बनाम सामाजिक पहचान

आलोक टंडन

'हिंदूवाद एक अंतर-निर्देशित या अंतर-उन्मुख धर्म है जो आत्म-बोध पर और आत्मा और ब्रह्म (परमात्मा) के मिलन या एकात्मकता पर ज़ोर देता है। दूसरी तरफ़, हिंदुत्व एक बाह्य-उन्मुख धारणा है, जो एक राजनीतिक उद्देश्य के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान पर केंद्रित है। इसलिए 'हिंदुत्व' हिंदूवाद के केंद्रीय सिद्धांतों और मान्यताओं से पूरी तरह कटी हुई धारणा है। फिर भी यह हिंदूवाद की पीठ पर सवार होकर और इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है।' (समीक्ष्य पुस्तक से, पृ. 236-37)

जब बर्ट्रेंड रसेल ने अपनी पुस्तक *व्हाई आइ एम नॉट अ क्रिश्चियन ?* लिखी होगी तो नहीं सोचा होगा कि उन्हीं की तर्ज़ पर 'मैं हिंदू क्यों हूँ?' या 'मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ?' जैसे आग्रहों पर भारत में पुस्तकों की रचना होगी। दिक़्क़त यह है कि रसेल के सामने ईसाई धर्म की सुनिश्चित मान्यताएँ थीं जिनसे उनका विरोध स्पष्ट था, किंतु हिंदू धर्म के बारे में ऐसा कहना मुश्किल है। हिंदू कौन है? हिंदू धर्म है या संस्कृति? यदि धर्म है तो इसकी मुख्य मान्यताएँ क्या हैं? यदि संस्कृति है तो इसका स्वरूप क्या है? क्या हिंदू धर्म को अन्य धर्मों— इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों के संस्थागत ढाँचे के समकक्ष रखा जा सकता है? फिर 'धर्म' शब्द को लेकर और 'रिलीजन' के उसकी भिन्नता दर्शाने वाली बहसों का तो कोई अंत ही नहीं है। बात तब और भ्रमपूर्ण हो जाती है जब हिंदुत्व की राजनीति करने वालों के पीछे चलने वाले हिंदुत्व को हिंदू धर्म का पर्याय समझ बैठते हैं। दरअसल हिंदू से हिंदुत्व तक का सफर, अन्य धर्मों की तर्ज़ पर एक हिंदू पहचान खोजने, पाने और स्थापित करने का प्रयास है जिसका उपयोग सामाजिक-राजनीतिक शक्ति पाने के लिए किया जा सके। किंतु यह रास्ता इतना सीधा-सादा नहीं है। इसमें ऐसे अनेक ऐतिहासिक मोड़ हैं जो इस कहानी को चुनौतीपूर्ण बनाते हैं। ऐसा ही चुनौतीपूर्ण समय आज है जब हमें बहुत सोच-समझकर चुनाव करना है क्योंकि इसके भारतीय समाज और राजनीति के लिए बड़े ही दूरगामी परिणाम होंगे। ऐसे में शशि थरूर की पुस्तक, *मैं हिन्दू क्यों हूँ?* का स्वागत किया जाना चाहिए जिससे बहस को किसी निर्णय तक पहुँचाया जा सके।
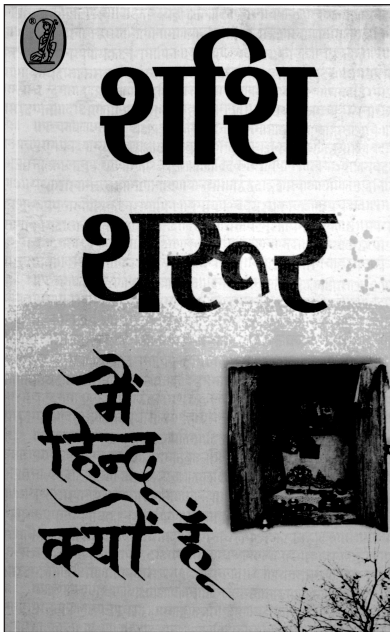
मैं हिन्दू क्यों हूँ (2018)
शशि थरूर
अनुवाद : युगांक धीर
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
पृष्ठ 356, मूल्य 695 रु.

यह बात क़ाबिलेतारीफ़ है कि प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में ही लेखक ने अपने मंतव्य को स्पष्ट कर दिया है। आज के राजनीतिक माहौल में की जा रही हिंदू धर्म की राजनीतिक व्याख्या से उनकी असहमति है लेकिन यह असहमति धर्म से बाहर खड़े व्यक्ति के रूप में न होकर, धर्म के भीतर खड़े एक हिंदू के रूप में है। लेखक हिंदू धर्म की अपनी समझ और उसमें भागीदारी के आधार पर राजनीतिक हिंदुत्व को चुनौती देना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित है। पहला खण्ड 'मेरा हिंदूवाद' है जिसमें हिंदू धर्म के लगभग सभी पहलुओं— प्रमुख पंथ, मत, गुरु, शिक्षाएँ और प्रश्न किये जाने योग्य प्रथाओं का वर्णन है। दूसरा खण्ड 'राजनीतिक हिंदूवाद' है जिसमें राजनीतिज्ञों और उनके धार्मिक सहयोगियों द्वारा अपने हितों के लिए हिंदू धर्म को हाइजैक करने की कोशिशों का वर्णन है। तीसरे खण्ड में हिंदू धर्म को उसकी विकृतियों से मुक्त करके उसके सच्चे स्वरूप में फिर से स्थापित करने का प्रयास है जिससे वह इक्कीसवीं सदी के अनुरूप आदर्श धर्म बन सके।

पहले अध्याय में ही लेखक ने उन कारणों का ज़िक्र किया है जिसके चलते हिंदू धर्म को परिभाषित करना बहुत मुश्किल है, जैसाकि 'न कोई संस्थापक, न कोई पैगम्बर, न संगठित चर्च, न कोई अनिवार्य मान्यताएँ या पूजापाठ की रस्में, न धर्मपरायण जीवन की कोई निश्चित धारणा, और तो और कोई एक श्रद्धेय या पूजनीय धर्म ग्रंथ भी नहीं।' (पृ. 23)। यह चुनौती तब और बड़ी हो जाती है जब हमें ज्ञात होता है कि किसी भी भारतीय भाषा में 'हिंदू' शब्द का कोई अस्तित्व नहीं था, यह विदेशियों द्वारा सिंधु नदी के पार रहने वाले लोगों के लिए प्रयोग में लाया जाता था। इसलिए 'हिंदू धर्म' के अंतर्गत अनेक सिद्धांत और धार्मिक व्यवहार समाहित हैं जिनमें किसी एक को हिंदू धर्म का मूलमंत्र नहीं कहा जा सकता है।

हिंदू धर्म की निर्णायक विशेषता, लेखक की दृष्टि में, उसका 'एकमात्र सच्चा धर्म' होने का दावा नहीं करना है जो इसे अन्य धर्मों (ईसाई, इस्लाम, जूदाइज़्म) से अलग करता है जिनकी जड़ों में यह कट्टर सिद्धांत है कि उनके अनुयायी ही एकमात्र सच्चे रास्ते पर चल रहे हैं जिससे बाक़ी सब भटक गये हैं। हिंदू धर्म के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के सभी रास्ते समान रूप से वैध हैं। यह किसी तरह की निश्चितता का दावा नहीं करता। इसमें एक बौद्धिक लचीलापन है जो किसी तरह की हठधर्मिता (*पवित्र ग्रंथ,* पैगम्बर) से परे है। कट्टरता से मिली इस स्वतंत्रता के कारण हिंदू धर्म में उसके हर अनुयायी को अपनी कल्पनाशीलता से अपना इष्टदेव गढ़ने की छूट है। साथ ही यह धर्म विश्व को सिर्फ़ सहिष्णुता ही नहीं बल्कि स्वीकृति भी सिखाता है क्योंकि यह सभी धर्मों को सच्चे धर्म के रूप में स्वीकार करता है। हिंदू धर्म की यह मान्याता है कि ईश्वर-प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हो सकते हैं, एक जैसा धार्मिक व्यवहार लागू करने की ज़रूरत नहीं है। हिंदू धर्म के भीतर भी ईश्वर को विभिन्न रूपों में पूजने की स्वतंत्रता है। इसी कारण मूल रूप में एक निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा के साथ-साथ मनुष्यों के लिए सगुण ब्रह्म के रूप में मूर्तिपूजा का बहिष्कार इसमें नहीं है। ईश्वरीय छवि में स्त्रियों का समावेश इसकी एक और अनूठी विशिष्टता है। हिंदुओं का इष्ट देवता कोई स्वर्गलोकवासी ईश्वर

नहीं है बल्कि वह हर समय उसके साथ रहता है। इसी तरह पूजा और प्रार्थना एक हिंदू के लिए निरा आध्यात्मिक अनुभव नहीं है बल्कि सांसारिक जीवन स्तर सुधारने से भी जुड़ा हुआ है। एक हिंदू अपने ईश्वर से कुछ भी माँग सकता है।

दूसरे अध्याय में 'हिंदू मार्ग' की विस्तृत विवेचना करते हुए लेखक ने दो आधारभूत विचारों को इंगित किया है जो हर हिंदू के मन में बहुत गहरे बैठे हुए हैं, चाहे वह उनका पालन करे या न करे। पहला है जीवन का चार आश्रमों में विभाजन— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। दूसरा है, जीवन के चार लक्ष्य— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जो उपरोक्त चार चरणों से जुड़े हुए हैं। अत: कहा जा सकता है कि हिंदू धर्म लौकिक और अलौकिक, दोनों इच्छाओं की तृप्ति को पर्याप्त स्थान देकर जीवन को समग्रता से जीने की प्रेरणा देता है।

लेखक के मतानुसार हिंदू धर्म चूँकि एक बहुकेंद्रीय धर्म है जिसमें अनेकानेक श्रद्धेय ग्रंथ हैं, इसलिए इसमें ईश्वरीय सत्ता का न तो एकमात्र ढाँचा है और न विश्वास-व्यवहार में एकरूपता। इसी कारण एक हिंदू अन्य धर्मों की परम्पराओं को किसी तरह की चुनौती के रूप में नहीं देखता। इसके लिए उसका धर्म कालातीत और सनातन धर्म है। यह अपने अनुयायियों को सत्य की सतत खोज के लिए प्रोत्साहित करता है। यह सत्य ईश्वर या पैगम्बर द्वारा ऊपर से उद्‌घाटित सत्य नहीं है। यह पूजा, ध्यान, सद्-आचरण और अनुभव से ही पाया जा सकता है। अंतत:, धार्मिक अनुभव एक निजी अनुभव है। इसी कारण हिंदू अपने श्रद्धेय ग्रंथों के शाब्दिक अर्थ खोजने की कोशिश नहीं करते क्योंकि शाब्दिक अर्थ अपने आप में अंतिम या परम सत्य नहीं होते। धर्मग्रंथ या तो आत्म-बोध करवा सकते हैं या नहीं करवा सकते। हिंदू धर्म पद्धति मूलत: अंतर्मुखी है, और चिंतन-मनन द्वारा अपने भीतर झाँकने और आत्म-बोध से जुड़ी है। फिर भी यह विशुद्ध आत्म-केंद्रित व्यक्तिवाद भी नहीं है क्योंकि इस खोज के साथ जो आत्म-बोध जुड़ा है वह सभी के लिए एक समान है। फिर भी, आलोचकों की दृष्टि में, सामूहिक आध्यात्मिक विकास की बजाय व्यक्तिगत आत्म-बोध पर केंद्रित होने के कारण हिंदू धर्म अपनी दार्शनिकता के बावजूद, सामूहिक कार्यवाही की दृष्टि से सर्वथा शक्तिहीन हो जाता है क्योंकि हिंदुओं को एक ऐसे 'परिभाषित' समुदाय के रूप में गठित करना कठिन हो जाता है जो बाहरी दबावों को दृढ़ता से झेल सके। हिंदुत्व के उद्भव के पीछे भी कुछ हद तक ये विचार ज़िम्मेदार थे, ऐसा लेखक ने माना है। 'हिंदू' शब्द उस तरह की एकरूपी सामुदायिक पहचान का प्रतीक नहीं है जैसा कि 'मुस्लिम' या 'ईसाई' शब्द का प्रयोग उन समुदायों के लिए किया जाता है।

उपरोक्त विशेषताओं के कारण, लेखक ने, हिंदू धर्म को एक ठेठ भारतीय उपज माना है और उसे एक बरगद के वृक्ष की संज्ञा दी है जिसकी शाखाएँ चारों ओर दूर तक फैली हुई हैं और फिर से धरती में घुसकर नयी-नयी जड़ों को जन्म देती रहती हैं। यहीं यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतनी विविधता के चलते क्या हिंदू धर्म के लिए बहुवाचक 'धर्मों' शब्द का प्रयोग उचित नहीं होगा, जैसा कि आध्यात्मिक नेता दादा वासवानी ने इसे 'लीग और रिलिजंस' कहकर सम्बोधित किया था? कुछ लोग 'हिंदू' शब्द के स्थान पर 'सनातन' शब्द का प्रयोग उचित समझते हैं क्योंकि हिंदू शब्द तो बाहर वालों का दिया हुआ है। किंतु 'सनातन' शब्द के साथ दिक़्क़त यह है कि उसे मानने वाले हिंदू धर्म में सुधारवादी आलोचकों जैसे 'आर्य समाज' से दूरी बनाए रखना चाहते हैं। कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि लेखक हिंदू धर्म की विशिष्टता और सभी धर्मों से इसकी भिन्नता दर्शाने में सफल रहे हैं। अच्छी बात यह है कि हिंदू धर्म के उज्ज्वल पक्ष को उभारने के साथ-साथ वे उसके दुर्बल पक्ष-जाति व्यवस्था, भाग्यवाद, अंधविश्वास, गुरुडम और धर्म के बाज़ारवाद पर भी उँगली उठाने से नहीं चूके हैं।

लेखक की यह मान्यता कि हिंदू धर्म को वर्ण व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि कुछ श्रद्धेय ग्रंथों में इस भेदभाव को धर्मसम्मत बताया गया है, उचित ही जान पड़ती है। किंतु लेखक का अपना मत कि भारत में जातियाँ तो थीं, पर जाति व्यवस्था नहीं, अंग्रेज़ों ने सफल प्रशासन

की दृष्टि से जनता को श्रेणीबद्ध और वर्गीकृत करने के लिए जाति पर ज़ोर दिया जो धीरे-धीरे कठोर जातिवादी व्यवस्था में विकसित हो गयी जिसके अंतर्गत लगभग तीन हज़ार जातियों को धर्मशास्त्रों में वर्णित चार वर्णों में फ़िट करने का प्रयास किया गया, अधिक ऐतिहासिक शोध की माँग करता है। कुछ भी हो, जाति व्यवस्था, छुआछूत और उससे जुड़ा भेदभाव, शोषण सदियों से हिंदू समाज के अंग रहे हैं जिसे आरक्षण के बावजूद आसानी से मिटाया नहीं जा सकता। यह भी सच है कि हिंदू धर्म जातिगत भेदभाव को मिटाने के बजाय उसे संरक्षण देता रहा है। यह हिंदू धर्म का नकारात्मक पहलू है जिससे मुक्ति के लिए सामूहिक, संकल्पबद्ध प्रयास जरूरी है। लेखक ने यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या अपने अनुयायियों के अत्याचारपूर्ण व्यवहार के लिए धर्म ही ज़िम्मेदार होता है? जवाब में कहा जा सकता है कि जब अपने अनुयायियों के श्रेष्ठ व्यवहार के पीछे हम उनके धर्म का गुणगान करते हैं तो फिर नकारात्मक व्यवहार के लिए धर्म को छोड़ कैसे सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो डॉ. आम्बेडकर को अपने अनुयायियों के साथ हिंदू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म न अपनाना पड़ता। श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था हिंदू धर्म में कोढ़ की तरह है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

हिंदू धर्म से जुड़े अन्य नकारात्मक पहलुओं जैसे ज्योतिष, भाग्य में विश्वास, अत्यधिक गुरु महिमा या पुनर्जन्म में आस्था के लिए लेखक ने हिंदू धर्म को आंशिक रूप से ही ज़िम्मेदार माना है और उससे लड़ने के लिए हिंदू धर्म के भीतर ही उपलब्ध साधनों के इस्तेमाल पर ज़ोर दिया है, जैसा कि पूर्व के अनेक धर्म-सुधारकों ने किया है। पुनर्जन्म को प्रश्नांकित करते हुए लेखक की निजी मान्यता है कि 'ऐसा लगता है कि किन्हीं निजी स्वार्थों के लिए उच्च जातियों द्वारा गढ़ी गयी अवधारणा है, ताकि ऊँच-नीच के बावजूद समाज में शांति बनी रहे। पुनर्जन्म की यह अवधारणा क्या सामाजिक असमानता और अन्याय को ऐसे ही तर्कों से उचित ठहराती हुई प्रतीत नहीं होती'। (पृ. 120)। लेकिन फिर उनका यह कहना कि 'पुनर्जन्म का सिद्धांत प्रतिपादित करने वाले हिंदू ऋषि-मुनियों का सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की विसंगतियों से कोई संबंध नहीं था' (पृ. 120), गले नहीं उतरता। यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है कि पुनर्जन्म का सिद्धांत जो हिंदू धर्म का स्थायी अंग रहा है, क्या आज स्वीकार्य है? लगता है लेखक कहीं तर्क और आस्था के द्वंद्व में फँस कर रह गये हैं।

हिंदुत्ववादियों की लड़ाई का असली मैदान भारत के मध्यकालीन इतिहास की उनकी व्याख्या है जिसके अनुसार भारत की पावन भूमि को अंग्रेज़ों से पहले मुस्लिम आक्रमणकारियों ने सदियों तक लूटा है और अब अपनी संस्कृति और धर्म के गौरव को पुनर्स्थापित करने का अवसर आ गया है। लेखक के अनुसार लूट का यह वृत्तांत प्रामाणिक दस्तावेज़ों पर आधारित न होने के कारण झूठ है। हिंदुत्ववादियों के इतिहास में अशोक, अकबर, जयसिंह, साहू महाराज और वाजिद अली शाह जैसे उदारवादी और सहिष्णु शासक राष्ट्रीय नायकों की सूची में शामिल नहीं हैं। यहाँ तक कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बिगुल बजाने वाले बहादुर शाह ज़फ़र, जीनत महल, मौलवी अहमदुल्ला आदि भी हिंदुत्ववादियों के वृत्तांत से ग़ायब हैं।

लेखक ने जिस श्रेष्ठ हिंदू धर्म की प्रस्तुतीकरण और वकालत अपनी पुस्तक में की है, उसकी स्थापना के लिए यह आवश्यक ही था कि वह हिंदू धर्म को उन महान् आत्माओं के अवदान की चर्चा करते जिन्होंने उसके ऐतिहासिक विकास में अपना योगदान दिया। चौथे अध्याय में उन्हीं की चर्चा है। आदि शंकराचार्य, रामानुज और भक्ति आंदोलन, बासवन्ना, राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, नारायन गुरु, रमण महर्षि, अरबिन्दो घोष, स्वामी विवेकानंद से गाँधी तक हिंदू धर्म के लम्बे सफ़र

को समेटने का प्रयास लेखक ने किया है। उन पर स्वामी विवेकानंद का प्रभाव स्पष्ट है जिसे उन्होंने स्वीकार भी किया है। लेकिन क्या विवेकानंद की यह मान्यता है कि 'बौद्ध धर्म और सिख धर्म, हिंदू धर्म की ही दो अलग धाराएँ थी जिनसे मातृधर्म को साफ़, शुद्ध और सुदृढ़ करने में मदद मिली' (पृ. 141), को बौद्ध धर्म और सिख धर्म के अनुयायी आज स्वीकार करेंगे? यही सवाल जैन धर्म के संदर्भ में भी उठाया जा सकता है। इसके अलावा भारत में नास्तिक दर्शन मानने वाले, आजीवकों, चार्वाकों की भी परम्परा थी। अत: हम पूछ सकते हैं कि क्या चार्वाक हिंदू नहीं थे? पिछले डेढ़ सौ वर्षों से अद्वैत वेदांत को ही हिंदू धर्म का आधारभूत दर्शन मानने की जो परम्परा विकसित हुई है, शायद लेखक भी उससे प्रभावित है जिस कारण वे भिन्न दर्शनों को उसी में समावेशित कर देना चाहते हैं जो उचित नहीं जान पड़ता। फिर भी इस बात की तारीफ़ तो करनी होगी कि लेखक ने दो प्रकार की बौद्धिक बाज़ीगरी से अपने को दूर रखा है। पहली है, हिंदू धर्म को 'धर्म' और बाक़ी को 'रिलिजन' शब्द से अभिहित कर हिंदू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करना। दूसरी है वर्ण और जाति में भेद कर वर्ण को आदर्श और जाति को उसकी विकृति मानना। हमारे बौद्धिक विमर्श को भटकाने के लिए दो ही काफ़ी हैं। लेखक इससे सतर्क रहने के लिए बधाई के पात्र हैं। लेकिन वे स्वयं सहमत न होते हुए भी पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धांत को बहुत हल्के ढंग से लेने के दोषी भी हैं। क्या पुनर्जन्म और उससे जुड़े कर्मफलवाद को स्वीकारे बिना हिंदू धर्म के सर्वोच्च ध्येय मोक्ष प्राप्ति का, जन्म-मरण के भवचक्र से छुटकारे के रूप में, कोई अर्थ है? हिंदू धर्म पर अपने विमर्श के अंत में लेखक ने उसे विचार और कर्म की एक विकसित होती परम्परा के रूप में देखा है जिस पर उसे गर्व है और उनके प्रश्न 'मैं हिंदू क्यों हूँ' का उत्तर भी। यद्यपि यदि वे एक दलित और स्त्री की तरह परम्परा के अंतर्विरोधों को देख पाते तो पता नहीं वे गर्व कर पाते या नहीं किंतु फिर भी भविष्य में सुधारों के प्रति खुलेपन के स्वीकार के लिए उनका प्रयास सार्थक है।

दरअसल प्रारम्भिक चार अध्यायों में फैली हिंदू धर्म की व्याख्या के पीछे लेखक का उद्देश्य उसे राजनीतिक हिंदूवाद से अलग करके उसके विरोध में खड़ा करना है। यह पाँचवें अध्याय के शीर्षक 'हिंदूवाद बनाम हिंदुत्व की राजनीति' से स्पष्ट है। इसके लिए पहले उन्होंने हिंदुत्व के विचारकों सावरकर, गोलवलकर, दीन दयाल उपाध्याय के विचारों को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी की राजनीति के साथ रखकर समझने का प्रयास किया है। 'हिंदुत्व' की अवधारणा का श्रेय आमतौर पर विनायक दामोदर सावरकर को दिया जाता है। 1928 में प्रकाशित उनकी पुस्तक *हिंदुत्व : हू इज़ अ हिंदू?* में सबसे पहले इस अवधारणा को प्रस्तुत किया गया। यह पुस्तक हिंदू राष्ट्रवादियों का आधार ग्रंथ माना जाता है। सावरकर के अनुसार हिंदू वह व्यक्ति है जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि (अपने पूर्वजों की भूमि) और पुण्यभूमि मानता है। भारत हिंदुओं की भूमि है क्योंकि हिंदू धर्म भारत में ही उत्पन्न हुआ है, बौद्ध धर्म और जैन धर्म भी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं किंतु इस्लाम और ईसाई धर्म बाहर पैदा होने के कारण इस श्रेणी में शामिल नहीं हो सकते। उन्होंने हिंदुत्व को एक ऐसी परिभाषित न हो सकने वाली गुणवत्ता माना जो हिंदू नस्ल में जन्मजात थी और जिसे हिंदू धर्म के किन्हीं विशिष्ट सिद्धांतों से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। सावरकर ने स्पष्ट घोषणा की कि हिंदू धर्म और हिंदुत्व समानार्थी नहीं हैं, हिंदू धर्म हिंदुत्व की एक उपधारा मात्र है। दरअसल उनका उद्देश्य हिंदुत्व को एक राजनीतिक दर्शन के रूप में विकसित करना था जिसके माध्यम से हिंदुओं को एकजुट किया जा सके। इसकी तीन शर्तें थीं— साझा राष्ट्र, साझी जाति और साझी संस्कृति। हिंदुत्व की इस परिभाषा से उन्होंने देश के दो महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक समुदायों, मुसलमानों और ईसाइयों को हिंदुत्व के दायरे से बाहर कर दिया क्योंकि उनके पूर्वज कहीं बाहर से आकर भारत में बसे थे। यह स्पष्ट नहीं किया गया कि सावरकर के हिंदू राष्ट्र में उनका क्या स्थान होगा। मोक्ष प्राप्ति के आध्यात्मिक उद्देश्य को निष्क्रियता और पलायनवादी मानते हुए सावरकर ने हिंदुओं द्वारा एकजुट

होकर राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की वकालत की। उनके लिए हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता थी।

उपरोक्त तर्क को तीन दशकों तक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के संघचालक रहे गोलवलकर ने आगे बढ़ाया। अपनी दो पुस्तकों *वी आर अवर नेशनहुड डिफाइंड* और *बंच ऑफ़ थॉट्स* के ज़रिये वे सावरकर को पीछे छोड़ते हुए 'हिंदू राष्ट्रवाद' के प्रमुख विचारक बन गये। सावरकर से उलट गोलवलकर हिंदू संस्कृति को व्यापक हिंदू धर्म का ही उत्पाद मानते थे। वे 1947 में प्राप्त भारतीय स्वतंत्रता को वास्तविक स्वतंत्रता नहीं मानते थे। वे क्षेत्रीय राष्ट्रवाद के विरोधी थे और मुक्ति का रास्ता 'भारतीय प्रजातंत्र' में न देखकर 'हिंदू धर्मतंत्र' में देखते थे। वे एक धर्मनिरपेक्ष भारत के विचार के कड़े विरोधी थे। गोलवलकर के प्रयास से हिंदुत्व को एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा के रूप में देखा जाने लगा जो हिंदुओं का वर्चस्व स्थापित करने की इच्छुक थी। जिससे हिंदू मूल्यों और हिंदू जीवनशैली को स्थापित किया जा सके। अल्पसंख्यकों की समस्या को लेकर उनका विचार था कि या तो वे अपनी अलग पहचान त्याग कर हिंदू नस्ल में घुल मिल जाएँ या फिर हिंदू राष्ट्र की अधीनता स्वीकार कर इस देश में रहते रहें जब तक कि उन्हें यह देश छोड़कर जाने के लिए नहीं कहा जाता। उनकी दृष्टि में इस समस्या का वैकल्पिक समाधान पुन:धर्मांतरण था। हिंदुत्व के बारे में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का आधिकारिक दृष्टिकोण आज भी गोलवलकर की धारणा से मेल खाता है। अल्पसंख्यकों को अपने हिंदू मूल को स्वीकार करना चाहिए। यदि वे अपने आप को 'मुहम्मदी हिंदू' 'ईसाई हिंदू' या 'पारसी हिंदू' के रूप में देखते हैं तो उन्हें भारत में स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा हिंदुत्व के नेतृत्व वाले भारत में वे अनचाहे नागरिक ही बने रहेंगे।

दीन दयाल उपाध्याय समसामयिक हिंदुत्व आंदोलन के सबसे महत्त्वपूर्ण विचारक माने जाते हैं। गोलवलकर की तरह ही वे राष्ट्र को एक भौगोलिक इकाई मानने से इंकार करते हैं और राष्ट्रवाद के लिए अपनी मातृभूमि के प्रति असीम समर्थन की भावना को सबसे पहली अनिवार्यता मानते हैं। उपाध्याय का दृढ़ विश्वास था कि व्यक्तिवाद, प्रजातंत्र, समाजवाद, साम्यवाद या पूँजीवाद ऐसी पश्चिमी धारणाओं के स्थान पर भारतीय राजनीति को हिंदू संस्कृति की प्राचीन और

लेखक की यह मान्यता कि हिंदू धर्म को वर्ण व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि कुछ श्रद्धेय ग्रंथों में इस भेदभाव को धर्मसम्मत बताया गया है, उचित ही जान पड़ती है। किंतु लेखक का अपना मत कि भारत में जातियाँ तो थीं, पर जाति व्यवस्था नहीं, अंग्रेज़ों ने सफल प्रशासन की दृष्टि से जनता को श्रेणीबद्ध और वर्गीकृत करने के लिए जाति पर ज़ोर दिया जो धीरे-धीरे कठोर जातिवादी व्यवस्था में विकसित हो गयी जिसके अंतर्गत लगभग तीन हज़ार जातियों को धर्मशास्त्रों में वर्णित चार वर्णों में फ़िट करने का प्रयास किया गया, अधिक ऐतिहासिक शोध की माँग करता है।

महान् परम्पराओं पर आधारित होना चाहिए। हिंदू संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है और हिंदू राष्ट्रवाद ही भारतीय राष्ट्रवाद है। वे न केवल संविधान निर्माण की प्रक्रिया बल्कि उसकी वैधता पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनकी दृष्टि में, संविधान में हिंदू राष्ट्र के विचार की अनुपस्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह वे इस सेकुलर दृष्टिकोण को भी सिरे से ख़ारिज कर देते हैं कि धर्म एक निजी मामला है जिसका राष्ट्र और समाज से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वे 'चिति' और 'विराट शक्ति' ऐसे शब्दों का प्रयोग राष्ट्र की आत्मा और उसकी जीवन शक्ति के लिए करते थे। स्पष्ट रूप से उपाध्याय मुस्लिम या ईसाई धार्मिक पद्धतियों के ख़िलाफ़ नहीं थे पर उनकी दृष्टि में यह समस्या धर्म से जुड़ी न होकर राजनीतिक एकता से जुड़ी थी। यदि ये दोनों समुदाय राष्ट्रीय संस्कृति की मुख्यधारा में मिल जाएँ तो नये भारत में उनका स्वागत है। इसके लिए उन्हें अपना धर्म त्यागने की ज़रूरत नहीं थी, बस भारत की पुरानी परम्पराओं से जुड़ाव, भारत माता के प्रति समर्पण और हिंदू राष्ट्रनायकों को अपने नायकों के रूप में देखना होगा।

वैसे तो दीन दयाल उपाध्याय के सोच को 'एकात्म मानववाद' कहा जाता है और मुस्लिमों और ईसाइयों को लेकर उनका सोच कुछ उदारवादी है किंतु विचार और भावना की दृष्टि से आज सावरकर और गोलवलकर की हिंदू राष्ट्र की अवधारणा ही हावी है और उपाध्याय का केवल नाम ही जपा जाता है, ऐसा लेखक का मत है। 1989 में पालमपुर में एक प्रस्ताव पारित करके हिंदुत्व की विचारधारा का अधिकृत रूप से भारतीय जनता पार्टी द्वारा अपना लिया गया जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करता था और भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतीक था। इसके बाद का इतिहास हमारे सामने है। बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद धीरे-धीरे यह विचारधारा शक्तिशाली होती गयी और आज 2019 के चुनाव के बाद भारी बहुमत से केंद्र में क़ाबिज़ है। ऐसे में लेखक की दृष्टि में यक्ष प्रश्न यह है कि क्या भारत का संविधान हिंदुत्व पर लगाम लगाने में सफल रहेगा या हिंदुत्व संविधान के कामकाज के तरीक़े को बदल देगा? क्या हिंदुत्व संशोधित संविधान में, यदि ऐसा हुआ तो, स्वतंत्र भारत का यह मूल सिद्धांत सुरक्षित रह पाएगा जिसके अनुसार सभी वयस्क भारतीय एक समान हैं फिर उनका धर्म चाहे जो हो? या इसकी केंद्रीय विषय-वस्तु हिंदुत्व पर आधारित होगी और ग़ैर-हिंदुओं के साथ भेदभाव किया जाएगा? इसी तरह क्या देश में समान नागरिक कानून लागू करना, कश्मीर में धारा 370 हटाना और समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष संविधान से छेड़छाड़ ऐसे ही विषय हैं जो क्या संविधान के मूल ढाँचे के छेड़छाड़ नहीं कहलाएँगे? यदि ऐसा हुआ तो यह विवेकानंद और गाँधी के हिंदू धर्म के विपरीत होगा, ऐसा लेखक का मत है।

हिंदुत्व की विचारधारा से असहमति जताते हुए लेखक ने कड़े शब्दों में उसकी आलोचना की है। उसके अनुसार हिंदू धर्म की जो विशेषताएँ विवेकानंद जैसे विचारकों ने बताई थीं, (पूर्वोक्त में जिनकी चर्चा हम कर चुके हैं) हिंदुत्ववादियों को हिंदू धर्म की कमज़ोरियाँ प्रतीत होती हैं। उनके द्वारा ध्रुवीकरण और एकजुटता के प्रयासों के पीछे हिंदू धर्म को उनकी प्रकृति के विपरीत एक सामी धर्म बनाने की चाह है जिसमें निश्चित निर्देशों वाले निश्चित सिद्धांत हों, एक ईश्वर (भगवान राम), एक विशेष धर्म ग्रंथ (गीता) को इसके प्रतीक के रूप में देखा जा सके। यह भारत के बहुसंख्यक हिंदुओं का हिंदू धर्म नहीं है। लेखक ने यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या हर धर्मपरायण हिंदू के बारे में यह मान लिया जाए कि वह हिंदुत्व की विचारधारा में विश्वास रखता है? उनका उत्तर नकारात्मक है किंतु 2019 के चुनाव में हिंदुत्ववादी शक्तियों की भारी विजय के बाद क्या उसके बढ़ते प्रभाव को नकारना उचित होगा? लेखक को अपने हिंदू होने पर गर्व है और वह अपने को राष्ट्रवादी मानता है किंतु हिंदू राष्ट्रवादी नहीं।

अपनी बात के तर्क को आगे बढ़ाते हुए लेखक ने छठे अध्याय में हिंदू संस्कृति और इतिहास के उपयोग और दुरुपयोग पर ध्यान केंद्रित किया है और कई समसामयिक विवादास्पद मुद्दों पर अपना

विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार भारत में धर्म निरपेक्षता का अर्थ अधार्मिकता नहीं है अपितु सर्वधर्म समभाव है, जिनमें से किसी को भी राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं है। (पृ. 239)। इसका अर्थ धर्म और राज्य में दूरी न होकर सभी धर्मों का ख़याल रखने वाला और किसी के साथ पक्षपात न करने वाला राज्य है। अत: भारत सेकुलर शब्द के आमतौर पर समझे जाने वाले अर्थ में एक सेकुलर देश नहीं है। इसकी बजाय यह एक बहुधर्मी देश है। दूसरे शब्दों में कहें तो राज्य सभी धर्मों को संरक्षण प्रदान करता है। (पृ. 241)। लेकिन दोनों बातें, किसी को भी संरक्षण प्राप्त न होना और 'सभी को संरक्षण', अंतर्विरोधी प्रतीत होती हैं। शायद उनका मंतव्य किसी एक को संरक्षण प्रदान नहीं करना है। लेखक की इस बात में काफ़ी दम है कि इस तरह से भारतीय सेकुलरवाद की जड़ें बहुत प्राचीन हैं और इसे हिंदू धर्म को चारित्रिक विशेषता–भिन्नता की स्वीकृति से और बल प्राप्त हुआ है। लम्बे समय तक साथ रहते–रहते विभिन्न धार्मिक समुदायों की जीवनशैली और धार्मिक गतिविधियाँ घुल–मिल गयी हैं। समन्वयता के ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। इसलिए, सिर्फ़ एक हिंदू और सिर्फ़ एक विशेष प्रकार का हिंदू ही एक प्रामाणिक भारतीय हो सकता है, राष्ट्रवाद की मूल भावना पर एक आघात से कम नहीं है। (पृ. 250)

हिंदुत्व की परियोजना को पूरी तरह नकारते हुए लेखक ने उसकी आधारभूत मान्यताओं को अपने तर्क से ख़ारिज करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। एक हिंदुत्ववादी के लिए भारत की राष्ट्रीय संस्कृति हिंदू धार्मिक संस्कृति है। यह धारणा हिंदू धार्मिक पहचान और संस्कृति में कोई अंतर नहीं करती और संस्कृति को सर्वग्राही धर्म का उत्पाद भर मानती है, जो भारत की सांस्कृतिक विविधता के साथ न्याय नहीं करती। और जैसा कि प्रारम्भिक चार अध्यायों में लेखक ने विवेचित किया है हिंदुत्व के विचारकों द्वारा परिभाषित हिंदू धार्मिक पहचान एक संकुचित दृष्टिकोण की प्रतीक है। एकजुटता का आह्वान विविधता की जगह एकरूपता और असहमति की जगह हठधर्मिता पर ज़ोर देता है। लेखक के अनुसार, 'हिंदू धर्म की अवधारणा भिन्नता या विधर्मिता के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती, विरोध और उल्लंघन तो दूर की बात है।' (पृ. 252)। हिंदुत्व की इस परियोजना के दो प्रमुख अंग हैं, एक सुनहरे हिंदू अतीत को खोजकर प्राचीन गौरव को उभारना और विरासत के अंग बन चुके सभी अवांछनीय प्रतीकों को मिटाना। दोनों कार्य ज़ोर–शोर से जारी हैं। इनका नतीजा विज्ञान के क्षेत्र में अविश्वसनीय, अंधविश्वासपूर्ण, तर्कहीन दावों के रूप में सामने आया है। ऐसे अतिशयोक्तिपूर्ण एवं हास्यास्पद दावों का मज़ाक उड़ाते हुए हमें अपनी सच्ची उपलब्धियों से आँख नहीं मूँद लेनी चाहिए, ऐसा कहकर लेखक ने एक संतुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। किंतु साथ ही उन्होंने उस दुखती रग पर भी उँगली रख दी है कि यह सच है कि हमारा अतीत बहुत भव्य और गौरवशाली रहा है परंतु मुख्य बिंदु यह है कि हमने इस ज्ञान को लुप्त हो जाने दिया। हमें उन उपलब्धियों पर झूमते नहीं रहना चाहिए। 'अतीत को एक प्रेरणास्रोत की तरह देखा जाना चाहिए, न कि एक रणभूमि की तरह'। (पृ. 260)

हिंदुत्ववादियों की लड़ाई का असली मैदान भारत के मध्यकालीन इतिहास की उनकी व्याख्या है जिसके अनुसार भारत की पावन भूमि को अंग्रेज़ों से पहले मुस्लिम आक्रमणकारियों ने सदियों तक लूटा है और अब अपनी संस्कृति और धर्म के गौरव को पुनर्स्थापित करने का अवसर आ गया है। लेखक के अनुसार लूट का यह वृत्तांत प्रामाणिक दस्तावेज़ों पर आधारित न होने के कारण झूठ है। हिंदुत्ववादियों के इतिहास में अशोक, अकबर, जयसिंह, साहू महाराज और वाजिद अली शाह जैसे उदारवादी और सहिष्णु शासक राष्ट्रीय नायकों की सूची में शामिल नहीं हैं। यहाँ तक कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बिगुल बजाने वाले बहादुर शाह ज़फ़र, जीनत महल, मौलवी अहमदुल्ला आदि भी हिंदुत्ववादियों के वृत्तांत से ग़ायब हैं। न केवल इतिहास का पुनर्लेखन किया जा रहा है अपितु सांस्कृतिक विरासत के कई अवांछनीय तत्वों को हटाना भी इसका लक्ष्य है। साथ ही कुछ पुस्तकों को खुलकर प्रोत्साहन भी दिया जा रहा है। *भगवद्गीता* को एक 'राष्ट्रीय ग्रंथ' बनाने की परियोजना इसी का हिस्सा

है। लेखक ने दो-टूक शब्दों में इसकी भर्त्सना की है। हमें किसी राष्ट्रीय धर्मग्रंथ की ज़रूरत नहीं है, न हमारा संविधान इसकी इजाज़त ही देता है।

लेखक का स्पष्ट मत है कि हिंदुत्व ब्रिगेड को अपने ही धर्म और संस्कृति का ज्ञान नहीं है। भारतीय संस्कृति हमेशा से ही उदार, समावेशी और विविधतापूर्ण रही है। प्राचीन काल से ही हमारे यहाँ यौन-संबंधों के देवता कामदेव की स्तुति करने की परम्परा रही है। ग्यारहवीं सदी तक भी भारत में आने वाले मुस्लिम यात्री हिंदुओं की यौन स्वच्छंदता देखकर दंग रह जाते थे। अपने अज्ञान के कारण हिंदुत्व ब्रिगेड युवा प्रेमियों के पीछे हाथ धोकर पड़ी है। उत्तर प्रदेश में तो उन पर नज़र रखने के लिए बाक़ायदा 'ऐंटी-रोमियो स्क्वाड' ही बना रखा है। इसी तरह की संकुचित मानसिकता के कारण वे कभी चित्रों, चलचित्रों को लेकर तोड़-फोड़ तो कभी ताजमहल का तिरस्कार करते नज़र आते हैं। गोरक्षा के नाम पर मुसलमानों और दलितों पर अत्याचार तो रोज़ की ख़बर है। धर्मरक्षकों द्वारा ईसाई चर्च पर हमला भी हिंदू धर्म की मूल भावना के विपरीत है। लेखक का निष्कर्ष है कि हिंदुत्ववादी न तो हिंदू धर्म के प्रति निष्ठावान हैं और न भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति। यह बहुसंख्यकों का सम्प्रदायवाद है जो अपने आप को राष्ट्रवाद के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। इस धारणा को हमारे राष्ट्रवादी आंदोलन ने ठुकरा दिया था कि भारत की राजनीतिक पहचान के निर्माण में धर्म सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व हो सकता है। हिंदुत्ववादी भारतीय नागरिकता के मूल आधार के साथ-साथ भारतीय राज्य की संवैधानिक आधारशिला को भी चुनौती दे रहे हैं। यह अत्यंत ख़तरनाक है।

अंतिम अध्याय में लेखक ने हिंदू धर्म और हिंदुत्व के अंतर को पुनः रेखांकित करते हुए सच्चे हिंदू धर्म की वापसी का आवाहन किया है जिसकी प्रकृति उत्तर-आधुनिक विश्व की प्रकृति के बिल्कुल अनुकूल है। उनका मानना है कि कट्टरवादी हिंदुत्व के स्थान पर उदारवादी हिंदू धर्म ही भारतीयता को सुदृढ़ बनाने में अपनी भूमिका निभा सकता है। हिदू राष्ट्रवाद भारतीय राष्ट्रवाद नहीं है और सही अर्थों में इसका सच्चे हिंदू धर्म से भी कोई संबंध नहीं है। एक गर्वीले हिंदू के रूप में लेखक अल्पसंख्यकों पर प्रहार के लिए अपने धर्म के दुरुपयोग से बहुत दुखी है। किंतु यहीं पर हिंदू धर्म अंतर्निहित जातीय भेदभाव जनित कट्टरता और अन्याय का ज़िक्र न करना किसी भी निष्पक्ष आलोचक के गले नहीं उतरेगा। हिंदू धर्म की सर्वसमावेश संस्कृति को इस गुणगान के प्रति *मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ* के लेखक कांचा इलैया की प्रतिक्रिया आसानी से समझा जा सकती है। फिर भी 'हिंदुत्व' को 'हिंदू धर्म' की विकृति के रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सफल रहे हैं। इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

यदि, लेखक के अनुसार, हिंदुत्व एक विकृति है तो फिर, वर्तमान संदर्भ में, उसके शक्तिशाली उभार के पीछे कारण क्या हैं? और उससे कैसे निपटा जा सकता है? ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गहराई से विचार अपेक्षित है। पहले प्रश्न को अंतिम अध्याय में दो-तीन पैराग्राफ़ में ही समेट दिया गया है जो नाकाफ़ी है। इसका सटीक विश्लेषण भी लेखक से अपेक्षित था कि स्वतंत्रता आंदोलन में हाशिये पर रहने वाली विचारधारा किस तरह पिछले सत्तर वर्षों में इतनी प्रभावी बन गयी? दूसरे प्रश्न को सार्वभौम हिंदू धर्म की श्रेष्ठता की सैद्धांतिक स्थापना तक ले जाकर छोड़ दिया गया है जो हिंदुत्व की राजनैतिक विचारधारा की बढ़ती ताक़त के सामने शक्तिहीन दिखाई पड़ता है। आज ऐसा कौन महानायक या संगठन है जो हिंदुत्व से टक्कर ले सके? हिंदू धर्म की दार्शनिक ग्रंथों से बनाई गयी छवि मात्र से यह कार्य सम्भव नहीं है। लेखक का यह मानना सही है कि भूमण्डलीकरण की प्रतिक्रिया स्वरूप, 'बैकलैश' के रूप में सांस्कृतिक ग़ैर-भूमण्डलीकरण का जो दौर धार्मिक कट्टरवाद और धार्मिक पुनर्उत्थानवाद के रूप में विश्व में उभरा है, हिंदुत्व की विचारधारा भी उसी की पैदाइश है। उसके प्रवर्तक अपनी परम्परागत पहचान के खोल में सुरक्षित महसूस करना चाहते हैं। हिंदुत्ववादी भूमण्डलीकरण में तो शामिल होना चाहते हैं किंतु उससे जुड़ी सांस्कृतिक विविधता को नकारना चाहते हैं। पूँजीवादी भूमण्डलीकृत आधुनिकता से जनित पहचान के संकट को वे सांस्कृतिक राष्ट्र की पहचान

से हल करना चाहते हैं जो भारतीयों को धर्म से जुड़ी इकलौती पहचान पर आधारित है। पूर्ण रूप से न सही, किंतु लेखक के शब्दों से दूर तक सहमत हुआ जा सकता है— 'हिंदुत्व आंदोलन उसी भावनात्मक और मानसिक ज़रूरत की उपज है जिसके इस्लामी धर्मांधवाद और श्वेत राष्ट्रवादी ईसाई कट्टरवाद का जन्म हुआ है।' (पृ. 326)। किंतु भारत के विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में उसके विश्लेषण की कमी खटकती है।

आधुनिकता से जुड़ी यह उम्मीद कि धीरे-धीरे धर्म का या तो लोप हो जाएगा या वह व्यक्तिगत जीवन तक सीमित हो जाएगा, सही साबित नहीं हुई है। हम धर्म को आज ख़ारिज नहीं कर सकते। किंतु क्या हम धर्म को पहचान से अलग कर सकते हैं? पुस्तक के लगभग अंत में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाकर लेखक ने गम्भीरता का परिचय दिया है। यदि हम धार्मिक कट्टरवाद/ आतंकवाद से बचना है तो हमें पहचान की ज़रूरत को पूरा करने के लिए दूसरे रास्ते खोजने होंगे। लेखक का सुझाव है यदि हम धर्म के बजाय नागरिकता की भूमि से अपनी पहचान को जोड़ सकें और इस पहचान का अन्य पहचानों के साथ तालमेल बिठा सकें तो हम उस महाविनाश से बच सकते हैं जिसकी कल्पना सेम्युअल हटिंग्टन ने अपनी पुस्तक *क्लैश ऑफ़ सिविलाईजेशंस* में की हैं। कुछ ऐसा ही सुझाव अमर्त्य सेन ने कुछ वर्ष पूर्व अपनी पुस्तक *आइडेंटेटी ऐंड वायलेंस* में दिया था। इसके साथ दिक़्क़त यह है कि धार्मिक पहचान हमारे अवचेतन में इतनी गहरे में धँसी रहती है कि वह पहचान के संकट के समय अन्य सेकुलर पहचानों पर भारी पड़ती है।

अधिकांश हिंदुत्ववादियों के अनुसार हिंदुत्व, आधुनिक विश्व की ज़रूरतों के अनुरूप, हिंदू धर्म का नवीन संस्करण है जो हिंदू धर्म में सदियों से चली आ रही कमज़ोरी को दूर करने का प्रयास है, इसे विकृति नहीं माना जा सकता। लेखक ने इसे विकृति मानकर प्रस्तुत पुस्तक में बड़ी सफलतापूर्वक सच्चे हिंदू धर्म के रूप में प्रतिपक्ष का निर्माण किया है। और एक सजग, सफल, सार्वजनिक बुद्धिजीवी होने का परिचय दिया है। अब यह काम विद्वानों का है कि वे इसे महत्त्वपूर्ण बहस को आगे बढ़ाएँ क्योंकि यह भारतीय लोकतंत्र के भविष्य को निर्धारित करेगी।

अंत में, पुस्तक के अनुवादक युगांक धीर की जितनी तारीफ़ की जाए कम होगी। ऐसे गम्भीर विषय का इतना प्रवाहपूर्ण अनुवाद कि पता ही न चले कि यह अनुवाद है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। बस, यदि वे 'हिंदूवाद' के स्थान पर 'हिंदू धर्म' शब्द का ही प्रयोग करते तो ज़्यादा अच्छा था क्योंकि हिंदूवाद से समाजवाद, साम्यवाद ऐसी राजनैतिक विचारधारा का भ्रम हो सकता है। वाणी प्रकाशन के संचालक अरुण माहेश्वरी ऐसे विस्फोटक विषय पर पुस्तक प्रकाशन के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। लोकतंत्र के भविष्य के लिए यह एक सार्थक प्रयास है जिसका स्वागत किया जाना चाहिए।

> यदि, लेखक के अनुसार, हिंदुत्व एक विकृति है तो फिर, वर्तमान संदर्भ में, उसके शक्तिशाली उभार के पीछे कारण क्या हैं? और उससे कैसे निपटा जा सकता है? ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गहराई से विचार अपेक्षित है। पहले प्रश्न को अंतिम अध्याय में दो-तीन पैराग्राफ़ में ही समेट दिया गया है जो नाकाफ़ी है। इसका सटीक विश्लेषण भी लेखक से अपेक्षित था कि स्वतंत्रता आंदोलन में हाशिये पर रहने वाली विचारधारा किस तरह पिछले सत्तर वर्षों में इतनी प्रभावी बन गयी? दूसरे प्रश्न को सार्वभौम हिंदू धर्म की श्रेष्ठता की सैद्धांतिक स्थापना तक ले जाकर छोड़ दिया गया है जो हिंदुत्व की राजनैतिक विचारधारा की बढ़ती ताक़त के सामने शक्तिहीन दिखाई पड़ता है। आज ऐसा कौन महानायक या संगठन है जो हिंदुत्व से टक्कर ले सके? हिंदू धर्म की दार्शनिक ग्रंथों से बनाई गयी छवि मात्र से यह कार्य सम्भव नहीं है।